स्याद्वाद की लोकमंगल दृष्टि एवं कथनशैली

☐ शान्ताकुमारी धर्मावत, एम. ए.

"सत्य क्या है ?" यह एक प्रश्न है जिस पर हजारों हजार एवं लाखों लाख वर्षों से विचार होता आया है। इस प्रश्न पर विचार करनेवाला एकमात्र मनुष्य है। मानव जाति निरंतर सत्य की खोज करती रही है, सत्य को जानने के लिए उत्सुक रही है। आज भी सत्य का जिज्ञासु एक ऐसे चौराहे पर खड़ा है, जहाँ सभी प्रकार के आचार, विचार, बोली, देश वाले व्यक्तियों के आने-जाने का तांता लगा हुआ है। वहाँ आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से वह एक ही प्रश्न पूछता है—सत्य क्या है ? और प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग उत्तर देता हुआ आगे बढ़ जाता है। एक कहता है कि सत्य पूर्व में है तो दूसरा कहता है कि नहीं, सत्य पश्चिम में है। कोई कुछ और कोई कुछ कहकर अपने दायित्व का निर्वाह कर रहा है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सत्य को अपनी दृष्टि से परखता है और जिस दृष्टि से देखता है, जिस रूप में देखता है, उसे ही सत्य मानने लगता है। परिणामतः उसके लिए झगड़ने लग जाता है कि 'नहीं नहीं, तुम सब झूठे हो, गुमराह हो, सत्य को नहीं पहचानते हो, अपनी बकवास बंद करो। सत्य तो मेरे पास है, आओ मैं तुम्हें सत्य को दिखाता हूँ।' इसका यह अर्थ हुआ कि सत्य बाजार में बिकनेवाली वस्तु है और वह कीमत देकर खरीदी जा सकती है, अथवा सत्य का भी नीलाम हो रहा है। विश्व में उसके सिवाय सत्य किसी के पास है ही नहीं।

प्रायः मानव मान लेता है कि वह जो कहता है, वही सत्य है। जो वह जानता है, वही सत्य है। मानव की इस मान्यता में सत्यदृष्टि नहीं, अपितु उसका अहंकार छिपा हुआ है। किसी को बुद्धि का अहंकार है तो किसी को धन का और किसी को प्रतिष्ठा का। परिणामतः उसने अपने अहंकार को ही सत्य का रूप दे दिया है और उसके लिए वाद-विवाद, संघर्ष करने तथा लड़ने और मरने मारने को भी तैयार हो जाता है। जो मेरा है वही सत्य है। यह मूल बीज है तो बहुत छोटा, लेकिन जब यह आग्रह का भूत सिर पर सवार हो जाता है तो विग्रह पैदा कर देता है। जिससे संघर्ष के स्वर और वैर-विरोध के विषैले वृक्ष लहलहाने लग जाते हैं।

श्रमण भगवान् महावीर ने एक दृष्टि दी, विचार दिया कि सत्य शाश्वत है, लेकिन यह मत कहो कि मेरा सत्य ही सत्य है। एकान्त आग्रह सत्य नहीं है और न वह सत्य का जनक है। जब तक यह दृष्टि नहीं हो जायेगी कि—'यत्सत्यं तन्मदीयम्' तब तक सत्य की खोज नहीं कर सकते। सत्य को पाने के लिए अनाग्रह की दृष्टि अपनानी पड़ेगी। अनाग्रहदृष्टि किसी पक्षविशेष से आबद्ध न होने का नाम है। जब अनाग्रहदृष्टि होगी तो सत्य स्वयं प्रतिभासित हो जायेगा, उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास, परिश्रम नहीं करना पड़ेगा।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस अनाग्रहदृष्टि का नाम ही स्याद्वाद-अनेकान्तवाद है। यह सत्य को अनंत मानकर चलता है। फलतः जहाँ भी जिस किसी से भी सत्य मिलता है, अनाग्रह एवं विनम्र भाव से उसे अपना लेता है। आग्रहशीलता आदि के बारे में भगवान् महावीर के कथन का निष्कर्ष यह है कि जो अपने-अपने मत की प्रशंसा करते हैं और दूसरों की निंदा में तत्पर हैं और ऐसा करने में ही पांडित्य समझते हैं वे इस संसार में चक्कर लगाते रहते हैं।[१]

अनेकान्तदर्शन के अनुसार प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, अर्थात् पर्याय से उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ भी द्रव्य से ध्रुव है। कोई भी वस्तु इसका अपवाद नहीं है।[२] मौलिक तत्त्वों के बारे में उन्होंने सूत्र दिया—"उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा ध्रुवेइ वा"—तत्त्व उत्पत्ति विनाश और ध्रौव्ययुक्त है। पदार्थ रूप से रूपान्तरित होते हुए भी अपने अस्तित्व, स्थायित्व से विहीन नहीं हो जाता है। लोकव्यवहार का ताना-बाना भी इन त्रिपदों से गुँथा हुआ है। जैसे कि व्यक्ति व्यक्ति के रूप में एक है, स्थायी है अवश्य, लेकिन साथ जुड़ने वाले सम्बन्ध बनते और बिगड़ते रहते हैं। व्यक्ति पिता है, पुत्र है, भाई, भतीजा, साला, बहनोई, मामा आदि अनेक सम्बन्धों से जुड़ा हुआ है, जिनकी यथावसर अभिव्यक्ति होती रहती है। पुत्र की अपेक्षा पितृत्व की उत्पत्ति हो जाती है और पिता की अपेक्षा उसका पिता रूप गौण होकर पुत्ररूप की उत्पत्ति हो जाती है। लेकिन इन पिता और पुत्र दोनों रूपों में व्यक्ति अपने व्यक्तिरूप, ध्रौव्य से विहीन नहीं हो जाता है। व्यक्ति है, तभी तो उसके साथ जुड़ने वाले सम्बन्धों का उत्पाद, विनाश यथावसर हो सका है।

लोक-व्यवहार में एक व्यक्ति के साथ अनेक सम्बन्धों का जुड़ना काल्पनिक नहीं है। हम अतीत की जीवन-परम्परा को छोड़ भी दें तो भी वर्तमानकालीन सौ वर्ष के सीमित जीवन-काल में भी अनेक सम्बन्धों की शृंखला जुड़ी हुई है। जैनसाहित्य में कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता का आख्यान प्रसिद्ध है, जो जन्मतः भाई-बहिन थे लेकिन भाग्य-दुर्भाग्य से अठारह सम्बन्ध वाले बन गये। वे नाते-सम्बन्ध भाई-बहिन, पति-पत्नी आदि से लेकर पिता-पुत्री आदि अनेक रूपों में प्रकट हुए। यद्यपि उन सम्बन्धों, धर्मों में विभिन्नता थी, लेकिन वे सभी अपेक्षादृष्टि से घटित हुए। जब इन प्रतीतिसिद्ध नातों का अपलाप नहीं किया जा सकता तब अनन्त धर्मात्मक वस्तु में विद्यमान धर्मों के[४] कथन के लिए अनेकान्तवाद-स्याद्वाद का विरोध कैसे सम्भव है? अपनी ऐकान्तिक दृष्टि से हम कुछ भी मानलें किन्तु सत्य को समझने के लिए वस्तु में अनन्त धर्मों की स्थिति को मानना ही पड़ेगा—

यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, चिन्तन के प्रत्येक आयाम में हम परस्पर विरुद्ध दो स्थितियों के स्पष्ट दर्शन करते हैं। यह दोनों स्थितियाँ सापेक्ष हैं। एकान्त अस्ति या एकान्त नास्ति जैसा निरपेक्ष कुछ भी नहीं है। अतः 'ही' का प्रयोग करके सफल नहीं हो सकते। सफलता प्राप्ति के

---

१. सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति संसारे ते विउस्सिया॥—सूत्रकृतांग १।१।२।२३

२. सद् द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए 'भी' का प्रयोग आवश्यक है। 'भी' का प्रयोग सफल, शिष्ट और सर्वमान्य प्रणाली है और इसके दर्शन हमें अपने प्रतिदिन के जीवन-व्यवहार में होते हैं। अपेक्षाओं की सिद्धि 'ही' से नहीं 'भी' से सम्भव है। 'भी' का प्रयोग यह अभिव्यक्ति देता है कि स्वसत्य तो सत्य है ही, लेकिन दूसरा भी सत्य है।

विश्ववन्द्य भगवान् महावीर ने स्याद्वाद सिद्धान्त के द्वारा यही सूत्र दिया है कि एक पक्ष की सत्ता स्वीकार करते हुए दूसरे पक्ष को भी उसका सत्य कहने दो और उस सत्य को स्वीकार करो। यह सिर्फ दार्शनिक चिन्तन नहीं है किन्तु सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला है और इसके द्वारा हम गरीबों दुर्बलों और अल्पसंख्यकों को न्याय दे सकते हैं। आज जो संघर्ष, वर्गभेद, विग्रह आदि हैं उनका मूल कारण एक-दूसरे के दृष्टिकोण को न समझना है, वैयक्तिक हठ व आग्रह आदि हैं।

अपूर्णता के द्वारा पूर्ण को जानने के समस्त प्रयास आंशिक सत्य के ज्ञान से आगे नहीं जा पाते हैं और आंशिक सत्य को ही जब पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तब संघर्ष पैदा होना अवश्यम्भावी है। सत्य न केवल उतना है कि जितना हम जानते हैं अपितु वह तो अपनी पूर्ण व्यापकता लिए हुए है। इसलिए मनीषी चिन्तकों को कहना पड़ा कि उसे तर्क, विचार, बुद्धि और वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है।[1] मानवबुद्धि सत्य को जानने में समर्थ अवश्य है; किन्तु पूर्णता प्राप्त किये बिना उसे पूर्णरूप में नहीं जान सकती है। ऐसी स्थिति में जब तक हम अपूर्ण हैं, हमारा ज्ञान अपूर्ण है, विचार अपूर्ण है, तब तक अपूर्ण ज्ञान से प्राप्त उपलब्धि को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उसे आंशिक सत्य कहा जायेगा और सत्य का आंशिक ज्ञान दूसरों के द्वारा प्राप्त ज्ञान का निषेध नहीं कर सकेगा। इसलिए इस प्रकार का दावा करना मिथ्या होगा कि मेरी दृष्टि ही सत्य है, मेरे पास ही सत्य है। आधुनिक विज्ञान ने भी शोध से यही सिद्ध किया है कि वस्तु अनेकात्मक है। प्रत्येक वैज्ञानिक सत्य का शोधक है। इसलिए यह दावा नहीं करता है कि सृष्टि के रहस्य और वस्तुतत्त्व का पूर्णज्ञान प्राप्त कर लिया है। वैज्ञानिक सापेक्षवाद का सिद्धान्त यही तो कहता है कि हम केवल सापेक्ष सत्यों को जान सकते हैं, निरपेक्ष सत्य को पूर्णद्रष्टागम्य है। अतः दूसरों के ज्ञात सत्य को असत्य नहीं कहा जा सकता है और आपेक्षिक सत्य अपेक्षाभेद से सत्य हो सकते हैं। स्याद्वाद की भी यही दृष्टि है।

इस प्रकार व्यावहारिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक आधारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व की संरचना विविध विरोधों का समन्वित रूप है और वे सब उसके धर्म हैं, स्वभाव हैं। उनके अतिरिक्त विश्व का अन्य कोई रूप नहीं है। ये विरोध प्रतिद्वन्द्वी नहीं है किन्तु परस्पर सापेक्ष हैं। उनका आधार एक है और वे आधार के प्रति एकनिष्ठ हैं। इस तथ्य को स्वीकार करने पर वैचारिक संघर्ष और विवाद के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता है।

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥[2]

---

१. (क) नैषा तर्केण मतिरापनेया।—कठोपनिषद्
(ख) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।—मुण्डकोपनिषद्
(ग) सव्वे सरा नियत्तंते तक्का तत्थ न विज्जइ।—आचारांगसूत्र
२. षड्दर्शनसमुच्चय-टीका।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणों के प्रति द्वेष। लेकिन यह आकांक्षा है कि जो भी वचन युक्तियुक्त हो उसे ग्रहण करूँ।

इस प्रकार स्याद्वाद ने व्यक्ति को उस असीम उच्च धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया, जहाँ वह अपने स्वविचारों की कसौटी करे। उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने वैचारिक-सहिष्णुता के लिए स्याद्वाद के अवलम्बन की आवश्यकता की ओर संकेत करते हुए कहा है—सच्चा अनेकांतवादी किसी दर्शन पर द्वेष नहीं करता है। वह संपूर्ण नयरूप दर्शनों को इस प्रकार की वात्सल्यदृष्टि से देखता है जिस प्रकार कोई पिता अपने पुत्रों को देखता है। क्योंकि अनेकांतवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं होती है। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहा जाने का वही अधिकारी है जो स्याद्वाद का अवलंबन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समानता का भाव रखता है। माध्यस्थ्य भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। मध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों के पढ़ जाने से भी कोई लाभ नहीं है।[1]

स्याद्वाद-कथनशैली

शब्दशास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक शब्द के मुख्य रूप से विधि और निषेध ये दो वाच्य होते हैं। एकान्त रूप से न कोई विधि संभव है और न कोई निषेध ही। विधि और निषेध को लेकर जो सप्तभंगी बनती है, वह इस प्रकार है—

(१) स्यात् अस्ति।
(२) स्यात् नास्ति।
(३) स्यात् अस्ति-नास्ति।
(४) स्यात् अवक्तव्यम्
(५) स्यात् अस्ति अवक्तव्यम्
(६) स्यात् नास्ति अवक्तव्यम्
(७) स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यम्

इस सप्तभंगी में अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये मूल तीन भंग हैं। इसमें तीन द्विसंयोगी और एक त्रिसंयोगी इस तरह चार भंग मिलने से सात भंग होते हैं। अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य और नास्ति-अवक्तव्य से द्विसंयोगी भङ्ग हैं। ये तीनों रूप आगमों में विद्यमान हैं। जैसे कि भगवान् महावीर ने गणधर गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—

---

१. यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी॥
तेन स्याद्वादमालंब्य सर्वदर्शनतुल्यतां।
मोक्षोद्देशविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित्॥
माध्यस्थमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्ध्यति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद् बालिशवल्गनम्॥
माध्यस्थसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रभा।
शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना॥ —अध्यात्मवाद ६९-७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नहीं, स्यात् अवक्तव्य।[1] स्व की अपेक्षा अस्तित्व है, पर की अपेक्षा अस्तित्व नहीं है, युगपत्—दोनों की अपेक्षा अवक्तव्य है। इन तीनों विकल्पों के संयोग से शेष चार विकल्प बनते हैं।[2] उनमें से स्यात्-अस्ति-नास्ति, स्यादस्ति-अवक्तव्य और स्यात्-नास्ति-अवक्तव्य यह तीन द्विसंयोगी तथा स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य यह एक त्रिसंयोगी भंग है।

सप्तभंगों के समूह को सप्तभंगी कहते हैं।[3] उनकी निर्माण-प्रक्रिया का मुख्य आधार यह है—प्रश्नकर्ता द्वारा प्रश्न उपस्थित किये जाने पर उत्तरदाता एक वस्तु में परस्पर अविरुद्ध नाना धर्मों का निश्चय कराने के लिए विवक्षापूर्वक वाक्य का प्रयोग करता है और इस वाक्यप्रयोग के लिए शर्त यह है कि एक ही वस्तु में जो सत् और असत् आदि धर्मों की कल्पना की जाती है वह प्रमाण से अविरुद्ध हो।[4]

सप्तभंगों के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) स्यात्-अस्ति—यह अन्य धर्मों का निषेध न करते हुए विधि-विषयक बोध उत्पन्न करनेवाला वचन होता है। जैसे—कथंचित् यह घट है।

(२) स्यात्-नास्ति—धर्मान्तर का निषेध न करते हुए निषेधविषयक बोधजनक कथन को स्यात्-नास्ति कहते हैं। जैसे—कथंचित् घट नहीं है।

(३) स्यात्-अस्ति-नास्ति—यह एक धर्मी में क्रम से आयोजित विधि प्रतिषेध विशेषण का जनक वाक्य होता है। जैसे—किसी अपेक्षा से घट है और किसी अपेक्षा से नहीं है।

(४) स्यात्-अवक्तव्य—निर्दिष्ट परिगृहीत स्व-रूप तथा अविवक्षित पर-रूप आदि की विवक्षा करने पर अवक्तव्य विशेषण वाले बोध का जनक वाक्य। जैसे—घट का कथंचित् वचन के द्वारा कथन नहीं किया जा सकता है।

(५) स्यात्-अस्ति-अवक्तव्य—धर्मी विशेष्य में सत्वसहित अवक्तव्य विशेषण वाले ज्ञान का जनक वाक्य। जैसे—कथंचित् घट है किन्तु उसका कथन नहीं किया जा सकता है।

(६) स्यात्-नास्ति-अवक्तव्य—धर्मी विशेष्य में असत्व सहित अवक्तव्य विशेषण वाले ज्ञान का जनक वाक्य जैसे—कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है।

(७) स्यात्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य—एक धर्मी में सत्व-असत्व सहित अवक्तव्य विशेषण वाले ज्ञान का जनक वाक्य। जैसे—कथंचित् है, नहीं है, इस रूप से घट अवक्तव्य है।

---

१. भगवती १२।१०

२. अमीषामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्छेषभंगानां च संयोगजत्वेनामीष्वेवान्तर्भावादिति।
—स्याद्वादमंजरी, श्लोक २४ की व्याख्या

३. सप्तानां भंगानां समाहारः सप्तभंगीति।—न्यायदीपिका

४. एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाविरुद्धा विधि-प्रतिषेध-विकल्पना सप्त-भंगी विज्ञेया।—तत्वार्थराजवार्तिक १।६

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

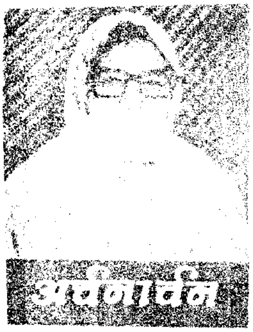

वस्तु तो अनन्तधर्मात्मक है, अतः उनका कथन करने वाले शब्द भी अनन्त होंगे। फिर भी उन सब कथनों का समाहार स्यादस्ति आदि उक्त सप्तभंगी में हो जाता है।[1]

इस प्रकार स्याद्वाद संकुचित एवं अनुदार दृष्टि को विशाल बनाता है। यह विशालता, उदारता ही पारस्परिक सौहार्द, सहयोग, सद्भावना एवं समन्वय का मूल प्राण है। आज के युग में तो इसकी और भी अधिक आवश्यकता है। समानता और सहअस्तित्व का सिद्धान्त स्याद्वाद को स्वीकार किये बिना फलित नहीं हो सकता है। उदारता और सहयोग की भावना तभी बलवती बनेगी जब हमारा चिन्तन कथन अनेकान्तवादी होगा। सत्य के मार्ग पर आया हुआ व्यक्ति हठी नहीं होता है बल्कि स्याद्वादी होता है। जब तक विश्व अनेकांत दृष्टि-स्याद्वाद को स्वीकार नहीं करेगा तब तक संसार में शान्ति होना संभव नहीं है। विश्व को अपने विकास के लिए स्याद्वाद का शाश्वत सरल मार्ग स्वीकार करना आवश्यक है। वास्तव में यही विश्वमंगल की आद्य इकाई है। यही स्याद्वाद की लोकमंगलदृष्टि है।

□□

---

१. पुच्छावसेण भंगा सत्तेव दु संभवदि जस्स जया।
वत्थुत्ति तं पउच्चदि सामण्णविसेसदो नियदं ॥

—तत्त्वार्थराजवार्तिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org